

समता और न्याय पर आधारित भारतीय लोकतंत्र दरअसल अभी भी इन मूल्यों के धरातल पर साकार होने के संघर्ष से जूझ रहा है। इन मूल्यों के साकार होने की उम्मीद शिक्षा से की जाती रही है लेकिन स्वयं शिक्षा व्यवस्था भी इसके लिए टकराहट के दौर से गुजरती रही है। यह लेख भारत में आधुनिक शिक्षा व्यवस्था के आरंभ के बाद शिक्षा पर वर्चस्वशाली तबके के प्रभुत्व की छानबीन करता है।

राहे मंजिल की बाकी हैं दुश्वारियां

निरंजन सहाय

भारतीय संदर्भों में राजसत्ता, समाज व्यवस्था और शिक्षा के बेहद संश्लिष्ट अनुभव रहे हैं। औपनिवेशिक समय से लोकतान्त्रिक अनुभवों तक और अब बाजारवाद के इस मौजूदा दौर की यात्रा में इसे बखूबी देखा-समझा जा सकता है। इन ताकतों को निर्धारित करने में समाज की उन वर्चस्ववादी शक्तियों की अहम् भूमिका रही जिन्होंने परंपरागत रूप से इन ढांचों पर अपना नियंत्रण रखा। कभी परोक्ष रूप से तो कभी अपरोक्ष रूप से वर्णवाद, सामंतवाद या फिर पुरुष वर्चस्व की अनुगुंजों को शैक्षिक परिवेश में हम देख सकते हैं। आजादी के सूरज के उगने के बाद जब लोकतान्त्रिक दुनिया में जाने के मंसूबे तय हुए उस समय ऐसा लगा कि तेज परिवर्तन के दौर का आगाज हो चुका है। ऐसा नहीं कि बदलाव की बयार नहीं बही पर स्थितियों की अनेक जटिलताएं बदस्तूर जारी रहीं। यह जानना जारी है कि कैसे शिक्षा संबंधी नीतियों के निर्धारण में वर्चस्ववादी तबके की केन्द्रीय भूमिका असर डालती है।

वर्णवादी भारतीय समाज में वर्चस्व का दायरा इस बात के लिए खास तौर पर चौकन्ना रहा है कि ज्ञान के दुर्ग में अवर्णों (दलितों) का प्रवेश सदा निषिद्ध रहे। भारतीय आधुनिकता ने प्रायः इससे बचने की कोशिश की। बंबई सरकार के इस आदेश के बाद कि सार्वजनिक स्कूलों में अछूत बच्चे भी प्रवेश के हकदार हैं, 8 अगस्त, 1935 को कविठा गांव में अछूतों ने अपने चार बच्चों को स्कूल में प्रवेश करा दिया। विरोधस्वरूप सवर्णों ने अपने बच्चों को न सिर्फ स्कूल से निकाल लिया बल्कि कुछ दिनों बाद सवर्णों ने लाठी, तलवार और बरछों से अछूतों के घर पर हमला कर दिया। उनके बच्चों, बूढ़ों और महिलाओं को घरों से निकालकर बुरी तरह घायल कर दिया गया। सवर्णों ने काम और बनियों ने सामान देना बंद कर दिया। घटना का सबसे दुखद पहलू यह था कि अछूतों ने हर जगह

सहायता की गुहार लगाई, पर कहीं से कोई सहायता नहीं मिली। अंततः अछूतों ने ढोलका अदालत में मजिस्ट्रेट से शिकायत की। इस मुद्दे पर गांधी और अम्बेडकर का द्वन्द्व प्रकट हुआ। अम्बेडकर ने इसे भारतीय समाज का नारकीय पहलू करार दिया। दूसरी तरफ गांधी ने इस मुद्दे से बचने की सलाह दी। यह एक ऐसा नाजुक मसला था जिसके आलोक में अम्बेडकर ने दलितों के द्वारा हिन्दू धर्म छोड़ने की बात की।¹ समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग के उन संदर्भों का जिक्र जारी है जहां राज्य की नीतियां दरकती हुई नजर आती हैं। 2011 में 1935 की बातें पुरानी लगती हैं और कई बार हमें सुविधाजनक निष्कर्ष की सहूलियत भी देती हैं और हम कहते हैं भारतीय समाज अब लोकतंत्र का महत्त्व जान चुका है। लेकिन हम यत्नपूर्वक अर्जित की हुई उन अवधारणाओं को खंडित होता हुआ देखते हैं, जब हमें पता चलता है कि राज्य के प्रतिनिधित्व करने वाले चेहरे राजधानी दिल्ली में भी मिड-डे मील के दौरान किस तरह सवर्ण दंभ सक्रिय होता है।

दरअसल राज्य की नीतियों का निर्धारण सामाजिक संस्थाओं की दखल के अनुरूप होता है। बकौल कृष्ण कुमार इस संदर्भ की निरंतरताएं 1870 यानी उसी समय से नजर आती हैं जब से नए ढंग की शिक्षा का प्रादुर्भाव हुआ था। राज्य सामाजिक संस्थाओं से बंधा लगता है। यह मसला इतिहास को समझने का है। राज्य स्वयं अपनी शक्तियों को दबा-दबा कर चलता है। उदाहरण के लिए, सवा सौ साल पहले शिशुभ्रूण हत्या कानून बना। पर कन्या-भ्रूण हत्या बंदस्तूर जारी है। वस्तुतः ऐसे मसलों में समाज की अपनी सांस्कृतिक निरंतरताओं की भूमिका होती है।

लेखक परिचय

महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी में हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग में एसोसिएट प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं। समाज, संस्कृति और शिक्षा के अन्तर्संबंधों पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में नियमित लिखते रहते हैं।

इस परिदृश्य को अनेक चरणों में विभाजित किया जा सकता है। पहला दौर 1947 से 1966 का है। इस दरमियान भारत ने दो युद्ध विभीषकाओं का सामना किया। खाद्यान्न के लिए वह अमेरिका पर आश्रित था। पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं पर क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव दिखता है। गांधी जी की 'बुनियादी तालीम' की अवधारणा को अमली जामा पहनाने के प्रयास शुरू हुए। अनेक विरोधी स्वर भी उठने शुरू हुए। तमिलनाडु जैसे राज्य यह सवाल

उठा रहे थे कि क्या आठवीं के बाद यह जारी रह सकती है? मुल्कराज आनंद ने विरोध कर कहा कि इससे बाल मजदूरों का बड़ा वर्ग बनेगा। नेहरू मेमोरियल म्यूजियम लाइब्रेरी में इस सिलसिले में लिखी उनकी पुस्तक इस संदर्भ में देखी जा सकती है।² गांधी जी इस मुद्दे पर कितने संवेदनशील थे इसका अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि उन्होंने इसके लिए स्वयं जाकिर हुसैन को बुनियादी तालीम के लिए नियुक्त किया। अनेक हल्कों से इसकी मुखालफत की आवाज भी उठने लगीं। जैसा कि प्रो. मुजीद ने उल्लेख किया है कि कैसे यह विभेद को प्रोत्साहित करता है। पाकिस्तान की तकरीबन हर इतिहास पुस्तक में नकारात्मक रूप में बुनियादी तालीम का जिक्र है। जब संयुक्त प्रांत में रविशंकर मिश्र ने स्कूल को विद्या मंदिर कहा तब मुसलमानों में यह धारणा मजबूत हुई कि इस योजना द्वारा हिन्दू मुसलमानों को अपने धर्म में शामिल करना चाहते हैं। कोठारी आयोग तक बुनियादी तालीम को उपेक्षित किया जाने लगा। उन दिनों चीन से युद्ध हो चुका था और पाकिस्तान से युद्ध जारी था। ऐसे वक्त कोठारी रक्षा सलाहकार थे। बहस इस बात पर छिड़ी कि क्या शिक्षा को रक्षा सेवा से संबंधित किया जा सकता है। श्रीमती गांधी पर दबाव था कि अमेरिका की चुनौती

1. डॉ. अम्बेडकर : एक पुनर्मूल्यांकन, कंवल भारती, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर 1997
2. मुल्कराज आनंद : ऑन एज्युकेशन, हिन्दू किताब, बॉम्बे, 1947

झेल सकें। यह वही वक्त था जब भारत खाद्यान्न उत्पादों के लिए अमेरिका पर निर्भर था। शिक्षा पर हरित-क्रान्ति जैसी योजनाओं को मूर्त करने का दबाव था। शिक्षा योजनाकारों को इस बात की चिंता थी कि कितने किसान ग्रेजुएट हो जाएं। ऐसे ही समय कोठारी आयोग ने बुनियादी तालीम को कल्पना के विपरीत बताया।

दूसरे दौर की शुरुआत 1966 में हुई। लैटिन अमेरिका के मद्देनजर भारत की शिक्षा नीतियों पर दबाव बना कि साक्षरता दर बढ़ाई जाए। उस दौर में उच्च शिक्षा की स्थिति अन्य मुल्कों से अच्छी थी। भारत की विरासत में उन चार विश्वविद्यालयों की स्मृतियां शामिल थीं जो 19 वीं सदी के मध्य में ही बन गए थे। आजादी के बाद आरंभिक दशकों में उच्च शिक्षा तेजी से आगे बढ़ी। 1966 के ही दौर में उद्योग-धंधों का तेज विकास हुआ। भारत के मध्य वर्ग ने राज्य से अलग अपनी ताकत तलाशना शुरू कर दिया। सत्तर के दशक के बाद से शुरू हुए इस दौर ने जब नब्बे के दशक का स्पर्श किया तब तक भारत में निजी स्कूलों का बड़ा तंत्र विकसित हो चुका था। जे. पी. नाइक ने 1975 में बताया कि 1947-1975 की अवधि में अध्ययनरत 100 बच्चों में 1 बच्चा ही दसवीं तक बचता है। इस दरमियान स्कूल छोड़ने की प्रक्रिया समान रहती है। हालत यहां तक पहुंचती है कि राज्य एक नए तरह के विचार के साथ शिक्षा संसार में अपनी उपस्थिति दर्ज कराता है। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा में 'नवोदय विद्यालय' का प्रवेश होता है। कम-से-कम एक श्रेष्ठ विद्यालय की अभीप्सा तक राज्य की चिंताएं सिमट जाती हैं। नए समीकरण ढूँढने में सफल होता है। लगभग पांच सौ शोध इस पर हुए कि उपेक्षित वर्ग शिक्षा से नए तरह की उम्मीदें करता है। एन.सी.ई.आर.टी का शर्मा और सप्रा का अध्ययन इस लिहाज से उल्लेखनीय है। 1990 के बाद इससे संबंधित कोई शोध नहीं हुए। मान लिया गया कि हर वर्ग शिक्षा का महत्त्व समझ गया है और यदि शिक्षा हर वर्ग तक नहीं पहुंच रही है तो यह मान लिया गया कि यह माता-पिता की नहीं बल्कि राज्य की असफलता है।

तीसरे दौर की शुरुआत 1996 से मानी जा सकती है। थाइलैंड के ज्योमेतेयिन शहर में इसी साल एक अंतर्राष्ट्रीय सहमति बनी, विश्व बैंक ने एक नई पोशाक में शिक्षा को प्रस्तावित किया। यह वैश्वीकरण का दौर था। इसी दौर में नरसिंह राव ने उदारिकरण को भारत की प्रगति से जोड़ा। भारत को कई बुनियादी बदलाव

करने पड़े। अंतर्राष्ट्रीय दबावों के तहत यह तय किया गया कि राज्य शिक्षा और स्वास्थ्य की जिम्मेदारियां धीरे-धीरे कम करेगा। शिक्षक को असुरक्षित रखने के सिलसिले भी शुरू हुए। शिक्षा-मित्र जैसी अवधारणाएं सामने आईं। बेहद जटिल स्थितियों वाले दौर में हम लोग जी रहे हैं। नव-उदारवाद का यह दौर बहुत ही अनुदारवादी है। वस्तुतः यह एक पूंजीवादी विचार है जो पूंजी के हित में है। यह अनेक तरह के अंतर्विरोधों का दौर है। जब तक कोई मुकम्मल नामकरण नहीं होता तब तक हम इसे वैश्वीकरण का दौर कह सकते हैं। इस व्यवस्था की असंगतियों को देखते-समझते हुए नीतियों का निर्माण करना चुनौतीपूर्ण है। 'शिक्षा का अधिकार' जैसे विधेयक का जब निर्धारण हुआ तब अनेक शिक्षाविदों ने इसे अधूरा कहा। पर भारत जैसे देश में यह बेहद महत्त्वपूर्ण है।

आवश्यकता इस बात की है कि भारत की शैक्षिक यात्रा का सिंहावलोकन किया जाए। समाज और संस्कृति की तरह शिक्षा भी लंबी लय में काम करती है। आजादी के बाद भी कमोबेश पुरानी नीतियां ही जारी रहीं। नेहरू के समय जिन प्रशासनिक सुधारों की अवधारणा तैयार हुई वे अभी तक लागू नहीं हुए। 1909 की पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में गांधी किसी और राज की जगह अपने राज का सपना देखते हैं। गांधी को ब्रिटेन से सहानुभूति होती है कि वह राज भला कैसे चल सकता है, यहां तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की नीतियां ही सक्रिय हैं। दरअसल निरंतरताएं शिक्षा जैसे विषय के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। शिक्षा का उद्देश्य है कि वह अतीत-वर्तमान दोनों से मुक्त होकर भविष्य के प्रति उम्मीद जगाए। जो निरंतरताएं भारतीय समाज में बखूबी जारी हैं, उनमें सबसे उल्लेखनीय है - ज्ञान और कौशल को भारतीय समाज के एक बहुत बड़े वर्ग से दूर रखने की निरंतरता।

उपनिवेश काल में ज्ञान के कौशल और हाथ से काम करने के बीच दूरी या तो बढ़ी या बरकरार रही। हालत यहां तक पहुंची कि ज्ञान को इस रूप में देखा जाने लगा कि उसका उत्पादन कहीं और होता है और ग्रहण कहीं और किया जाता है। रवींद्रनाथ टैगोर कहते हैं, 'हमारे बच्चे सरस्वती के साम्राज्य में मजदूरी करते-करते बड़े हो जाते हैं।'³ उपनिवेशवादी सोच से ग्रस्त हम आज भी चीजों को उपनिवेशवादी तरीके से देखते हैं। हमारे सामने आविष्कारों के नाम याद करने की चुनौती होती है। भारतीय विद्यालयों में अध्यापकों के सामने यह चुनौती होती है कि वह कैसे आविष्कारों के अधिकाधिक नाम अपने विद्यार्थियों को याद करा दें। यही

3. प्रो. कृष्ण कुमार का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 1 दिसंबर 2011 को दिया गया व्याख्यान।

प्रवृत्ति एक अन्य संदर्भ में भी नजर आती है, जब हम कहते हैं 'कभी हम बहुत बड़े थे, फिर छोटे हो गए।' पुनरुत्थानवाद बेहद मोहक शब्दावली में हमारे सामने आता है। इस सिलसिले में श्रीलंका के मशहूर समाजशास्त्री सुसांत गुणतिलक ने 'पंगु मस्तिष्क' शीर्षक से एक मूल्यवान अध्ययन किया है। उन्होंने अपने अध्ययन में पाया कि पूंजीवादी देशों में जिस संस्कृति, विज्ञान और प्रद्यौगिकी का जन्म हुआ वह कोई सार्वभौम संस्कृति नहीं थी बल्कि उसका चरित्र उपनिवेशवादी मुल्कों के विशेष प्रकार के सामाजिक-आर्थिक ढांचे का परिणाम था। इसलिए उपनिवेशों के विज्ञान पर उसकी छाप सहजता से नजर आती है। उन उपनिवेशों की संस्कृति अपने शोषक देशों के आर्थिक-सांस्कृतिक क्रियाकलापों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संचालित होती हैं। यही कारण है कि पूंजीवादी देशों के विकास के चरणों की छाया उनके उपनिवेशों में भी स्पष्ट तौर पर नजर आती है। यहां तक कि इस सांस्कृतिक प्रभाव के विरोधियों और समर्थक उपनिवेशों में भी इसे देखा जा सकता है।⁴ इन सबकी अनुगूँजे शिक्षा संसार में भी दिखती हैं।

एक अन्य तरह की दुविधा हमारे सामने है, वह भाषा के संदर्भ में है। इस सिलसिले में उपनिवेशकालीन मानसिकता और भी गहरी हो गई है। हालत यहां तक पहुंच गई है कि हमारे सर्वश्रेष्ठ स्कूल भी भाषा को लेकर दुविधाग्रस्त हो गए हैं। उनकी गिरफ्त में छोटे स्कूल भी तेजी से आ रहे हैं। सदी के दूसरे दशक में यह सवाल बहुत महत्वपूर्ण है कि क्या भारतीय भाषाओं में ज्ञानार्जन संभव है? मौजूदा बाजारवादी दौर में यह सवाल भी बहुत मौजूं है कि शिक्षा राज्य का काम है या बाजार का? आने वाले समय में शिक्षा को सीधे लाभ के और भी आक्रामक तरीके से जोड़ा जाएगा। नवधनाढ्य वर्ग में यह समझ आक्रामकता का रूप धारण करती जा रही है कि जब हर चीज बिकाऊ है और शिक्षा भी बिकाऊ है तो फिर इससे कुछ लोगों को क्यों दिक्कत होती है? इस वर्ग ने समाज में इस समझ का तेजी से विस्तार किया है कि सरकारी शिक्षा दायम दर्जे की है। यह सरकार को लेकर बन रही निरंतरता है। इस तरह भले ही हम अपने राज में जी रहे हैं। पर आत्मा अभी भी याद दिलाती है कि ताकत किसी और के द्वारा संचालित है। 'खाकी लिफाफा' गांव में भय पैदा करता है। पुलिस के तौर-तरीके उपनिवेशकाल की याद दिलाते हैं।

भारतीय राज्य अभी भी लोकतांत्रिक बनने के लिए प्रयासरत है। दरअसल, परिपक्व लोकतंत्र की यह निशानी है कि वह सार्वजनिक

व्यवस्थाओं में जनभागीदारी को किस तरह बढ़ाता है? फिर चाहे सवाल शिक्षा का हो या अन्य व्यवस्थाओं का। अभी तक हमारे देश में शिक्षा मध्यवर्गीय जकड़ से बाहर नहीं आई है। संपूर्ण शिक्षा व्यवस्था इसी वर्ग की आकांक्षाओं को संबोधित करती रही है। फिर चाहे स्कूली शिक्षा की पाठ्यचर्या के मुद्दे रहे हों या पाठ्यसामग्रियों के। हाल के कुछ वर्षों में शिक्षा में परिवर्तन की सुगबुगाहट दिखाई देती है। यह पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तकों के संदर्भ में है और साथ 6 से 14 वर्ष के सभी बच्चों को शिक्षा मुहैया कराने के लिए शिक्षा के अधिकार कानून से पैदा हुई है। लेकिन ये सफर लम्बा है और आसान भी नहीं है। यदि भारतीय राज्य सही मायनों में लोकतंत्र को स्वीकार करता है तो एक ऐसा तंत्र गढ़ने की आवश्यकता है जो समता और न्याय के विचार की स्थापना की दिशा में कार्य करे। निश्चित रूप से शिक्षा ही वह जरिया है जो इसे साकार कर सकती है लेकिन इसके लिए राज्य को ऐसी प्रक्रियाएं स्थापित करनी होंगी जो सभी बच्चों के लिए समान गुणवत्ता की लोकतांत्रिक मांग जिसमें सभी वर्गों की आकांक्षाओं का पूरा करना होगा। ♦

(यह लेख प्रोफेसर कृष्ण कुमार के उस व्याख्यान से प्रेरित है, जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के राधाकृष्ण सभागार में 1 दिसम्बर, 2011 को भारत परिदृश्य में शैक्षिक वर्चस्व के संदर्भ में दिया गया था। लेखक इसके लिए कृतज्ञ हैं।)

4. पंगु मस्तिष्क; शिक्षा पर औपनिवेशिक संस्कृति का दबाव, सुसांत गुणतिलक, अनुवाद-स्वयं प्रकाश, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) 2000।